कठिन होता संसदीय गतिरोध का हल

राहुल वर्मा

निरंतर गहराते संसदीय गतिरोध का कोई हल न निकल पाने का एक कारण यह भी है कि अब सत्तापक्ष-विपक्ष में सेतु बनने वाले नेता नदारद दिखते हैं

अवधेश राणावत

भारत को विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र की प्रतिष्ठा प्राप्त है, किंतु कुछ हालिया घटनाक्रम इस ख्याति पर ग्रहण लगाते दिख रहे हैं। यह घटनाक्रम संसदीय गतिरोध से जुड़ा है, जिसके हाल-फिलहाल दूर होने के कोई आसार नहीं दिखते। सत्ता पक्ष और प्रतिपक्ष अपने-अपने रवैये पर अड़े हुए हैं और समय के साथ बढ़ रही राजनीतिक कड़वाहट इस स्थिति को और भी जटिल बना रही है। बजट सत्र की शुरुआत से ही जहां कांग्रेस के नेतृत्व में भाजपा विरोधी दल अदाणी मामले में संयुक्त संसदीय समिति यानी जेपीसी गठित करने की मांग को लेकर दबाव बनाने में लगे थे, वहीं सत्तापक्ष कांग्रेस नेता राहुल गांधी के लंदन में दिए गए बयान पर माफी की मांग कर रहा था। चूंकि अदाणी मामले में उच्चतम न्यायालय ने एक विशेषज्ञ समिति गठित कर दी थी तो जेपीसी की मांग का कोई खास औचित्य नहीं रह गया था। इसी प्रकार राहुल के बयान को लेकर भी कोई बीच का रास्ता निकाला जा सकता था। सत्ता में होने के नाते संसद को सुचारु रूप से चलाने की जिम्मेदारी सरकार की अधिक है तो वह भी अपना रवैया कुछ नरम करती तो कोई बात बन सकती थी। इस बीच मानहानि के मामले में राहुल गांधी की संसद सदस्यता समाप्त होने से बात बनने की सभी संभावनाएं और बिगड़ गई हैं। संसदीय लोकतंत्र के संदर्भ में यह हालिया घटनाक्रम लक्षण मात्र है और इस बीमारी की जड़ें खासी पुरानी हैं।

पिछले कुछ समय से संसदीय गतिरोध की समस्या बहुत सामान्य हो गई है। सदन में हंगामा बेहद आम हो गया है। सदन के भीतर हंगामे की तस्वीरें शर्मसार करने वाली होती हैं। यह सिलसिला अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व वाली राजग सरकार के दौरान विपक्षी दलों के रवैये से शुरू हुआ, जिसे संप्रग सरकार के समय विपक्ष में रही भाजपा ने और आगे बढ़ाया, जो वर्तमान में पानी सिर से ऊपर गुजर जाने वाली स्थिति में पहुंच गया है। संप्रग सरकार के दौरान राज्यसभा में नेता-प्रतिपक्ष रहे अरुण जेटली ने तो यहां तक कह दिया था कि 'संसद में गतिरोध भी संसदीय लोकतंत्र का एक हिस्सा है।' समय के साथ इस गतिरोध की खाई और चौड़ी होती गई तो इसी कारण कि अब राष्ट्रजीवन के प्रत्येक स्तर पर ध्रुवीकरण बढ़ गया है। ध्रुवीकरण के कारण बढ़ी तनातनी से संसदीय मर्यादा बार-बार तार-तार हो रही है। जबकि एक आदर्श लोकतंत्र में यही अपेक्षा की जाती है कि उसमें संवाद की गुंजाइश सदैव विद्यमान रहे जो अब निरंतर सिकुड़ती जा रही है। इसका एक बड़ा कारण तो सत्ता पक्ष और विपक्षी दोनों खेमों में ऐसे नेताओं की अनुपस्थिति दिखती है, जो विपक्षी खेमे में भी संवाद के माध्यम से गतिरोध का हल निकाल सकें। जैसे संप्रग सरकार के दौरान प्रणब मुखर्जी यह भूमिका निभाते थे और मोदी सरकार के पहले कार्यकाल में अरुण जेटली। अब सत्ता पक्ष-विपक्ष में सेतु बनने वाली ऐसी आवाजें सुनाई नहीं पड़तीं। इसकी प्रमुख वजह यह भी है कि राजनीतिक दलों में आंतरिक लोकतंत्र की स्थिति कमजोर होती जा रही है, जिसमें सर्वोच्च नेता के बाद किसी अन्य की बात का कोई खास वजन नहीं रह जाता है।

ऐसा नहीं है कि संसद में तकरार की स्थिति पहली बार बनी है। अतीत में भी संसदीय परिदृश्य पर तनाव हावी होता था और तीखे शब्द बाण चलते थे, लेकिन उसमें दो अघोषित, किंतु स्वीकार्य परंपराएं थीं। एक तो यही कि संवाद के दरवाजे कभी पूरी तरह बंद नहीं किए जाते थे और सदन से बाहर निकलकर नेताओं में उतनी कटुता नहीं दिखती थी। दूसरी यही कि सदन में नेता एक दूसरे पर प्रहार जरूर करते थे, लेकिन एक सीमा के भीतर। अब जो कड़वाहट घुली हुई है उसके तार अतीत से भी जुड़े हैं। चूंकि प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी और गृहमंत्री अमित शाह को निशाना बनाने में कांग्रेस ने कोई कमी नहीं छोड़ी तो संभव है कि मोदी-शाह की जोड़ी भी प्रतिद्वंद्वी पार्टी को कोई रियायत न दें। राजनीतिक प्रेक्षक भले ही इसे बदले की राजनीति कहें, लेकिन यह परिपाटी तो पहले से चली आ रही है कि जिसके हाथ में सत्ता के सूत्र होते हैं, वह अपने अनुकूल समीकरण तैयार करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते।

संसदीय-राजनीतिक पटल पर इस समय जो हो रहा है उसके सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों निहितार्थ दिखते हैं। जहां राहुल गांधी की संसद सदस्यता रद होने से शायद यह संदेश जाए कि नेता अब संभलकर अपनी बात रखेंगे। वहीं केंद्रीय एजेंसियों की कार्रवाई को भी भ्रष्टाचार के विरुद्ध सरकार के निर्णायक युद्ध के रूप में देखा जा सकता है। फिर भी, संसदीय गतिरोध के नकारात्मक निहितार्थ अधिक हैं। इससे दलों में तकरार और बढ़ेगी। संसदीय कार्यवाही के न केवल प्रभावित होने, बल्कि बहस की गुणवत्ता में गिरावट आने की आशंका अधिक है। जिस संसद में देश की दशा-दिशा तय करने के लिए उच्चस्तरीय विमर्श होना चाहिए था, वह राजनीतिक कारणों से हंगामे का अखाड़ा बनकर रह गई है। इससे संसदीय लोकतंत्र का अवमूल्यन हो रहा है। एक समय वह भी था जब बांग्लादेश निर्माण के समय अटल बिहारी वाजपेयी ने तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की प्रशंसा की थी तो वाजपेयी के प्रधानमंत्री रहते हुए परमाणु परीक्षणों और अंतरराष्ट्रीय प्रतिबंधों की स्थिति में विपक्ष सरकार के साथ एकजुट था। अब स्थिति यह है कि पाकिस्तान पर सर्जिकल और एयर स्ट्राइक जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े मुद्दे पर भी विपक्ष द्वारा साक्ष्य मांगे जाते हैं। नीतिगत मुद्दों पर बनी ऐसी स्थिति के लिए केवल मौजूदा विपक्ष को ही दोष नहीं दिया जा सकता। जब भाजपा विपक्ष में थी तो उसने भी परमाणु करार और जीएसटी से लेकर आधार तक का विरोध किया, लेकिन सत्ता में आने के बाद उसके सुर बदल गए।

आखिर इस प्रकार के संसदीय-राजनीतिक गतिरोध का हल कैसे निकले? क्या इसके लिए राजनीतिक बिरादरी को ही पहल करनी होगी? या फिर जनता ही इसका निर्णय करेगी। साथ ही इसमें जन दबाव समूहों की भूमिका भी महत्वपूर्ण होगी। कुल मिलाकर, आजादी के अमृतकाल में नेताओं का ऐसा आचरण अनुकरणीय नहीं कहा जा सकता। उन्हें तो इस समय भारत को लेकर अपनी साझा समझ और विजन को आगे रखना चाहिए, लेकिन वे आपस में ही उलझे हुए हैं।

(लेखक सेंटर फार पालिसी रिसर्च में फेलो हैं)
response@jagran.com